पूर्वक्रमागत -

श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्य रसिककुल मुकुटमणि श्रीरूपकवीश्वर गोस्वामि-विरचित

सार संग्रहः

❁ अनुवादक - ब्रजरसिक श्री प्रेमदास शास्त्री

श्रीमत्कामानुगां वन्दे यस्याः प्रव्यक्तये स्वयम्। श्रीनन्दनन्दनो गौड़े श्रीगौरविधुतामगात्।।93।।

अथ कामानुगा स्वरूप प्रकाशनम्।

सा कामरूपा सम्भोगस्तृष्णां या नयति स्वताम्। यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः।।94।।

(श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु 1/2/283)

इति लक्षिता कामरूपा समर्थापरपर्याया द्वयोः समानलक्षणत्वात्। तथा हि समर्थालक्षणं —

कञ्चिद्विशेषमायान्त्या सम्भोगेच्छा ययाभितः। रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते।।95।।

सर्वाद्भुतविलासोर्मिचमत्कारकरश्रियः। सम्भोगेच्छाविशेषोऽस्यां रतेर्जातु न भिद्यते।।96।।

(श्रीउज्ज्वलनीलमणि स्थायी भाव प्र. 52, 55)

अनुवाद — श्रीकामानुगा भक्ति की मैं वन्दना करता हूँ, जिसके प्रचार-प्रसार हेतु स्वयं श्रीनन्दनन्दन श्रीगौरचन्द्र के रूप में गौड़देश में अवतीर्ण हुए हैं।।93।।

कामानुगा भक्ति का लक्षण श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु में वर्णित—"कामरूपा (प्रेममयी) भक्ति उसे कहते हैं जो संभोगतृष्णा (निज सुख कामना) को रागात्मिक रूप में अपना सारूप्य प्राप्त करा देती है। अर्थात् यह प्रेमरूपा भक्ति स्वसुखवांछा को अपने में सर्वथा समाहित कर लेती है। इसलिए इसमें अपने सुख की कामना के उदय में भी केवल श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही सब प्रकार की चेष्टायें में देखी जाती हैं।।94।।

इस प्रकार लक्षण से युक्त कामरूपा भक्ति समर्थारति का दूसरा पर्याय है, क्योंकि दोनों का लक्षण एक समान है।

रूपानुगा व्याख्या — श्रीग्रन्थकारचरण श्रीमद् रूपकवीश्वर गोस्वामी जी ने प्रकाशन चतुष्टय के अन्तिम 'कामानुगा स्वरूप प्रकाशन' प्रकरण के प्रारम्भ में श्रीकामानुगा भक्ति की वन्दना करते हुए कहा कि स्वयं भगवान् श्रीनन्दनन्दन श्रीव्रजदेवियों की कामरूपा (प्रेममयी) भक्ति की अनुगता जिस कामानुगा भक्ति के प्रचार-प्रसार निमित्त कलियुग में श्रीशचीनन्दन गौरहरि के रूप में गौड़देशान्तर्गत श्रीनवद्वीप धाम में अवतीर्ण हुए हैं, मैं उस कामानुगा भक्ति की वन्दना करता हूँ।

प्रेम प्रतिमा श्रीव्रजसुन्दरियों—सखी-मंजरियों की परम निर्मल दिव्य प्रेम को प्राप्त करने के लिए उनके आनुगत्य में साधक-भक्तों को साधना करनी होगी। श्रीव्रजदेवियों की भक्ति कामरूपा (प्रेमरूपा) है तो साधकों की भक्ति कामानुगा (प्रेमानुगा) संज्ञा प्राप्त है। यहाँ प्रश्न उठता है कि इनकी भक्ति को प्रेमरूपा तथा प्रेमानुगा न कहकर कामरूपा एवं कामानुगा क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में रसिकाचार्य शिरोमणि श्रीमद्रूपगोस्वामी जी ने श्रीभक्ति रसामृत सिन्धु में (1/2/284) में कहा है-

इति। अत एव समर्थानुगैव कामानुगा। समर्थानुगयैव समर्थाप्राप्त्या तद्विषयश्रीनन्दनन्दनप्राप्तिः। समञ्जसानुगा तु वैधी। अस्यां शास्त्रोक्तायाः प्रवलायाः –

"पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्" (उशनस संहिता)

इत्यादिमर्यादाया अनुकरणात्।

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते। नात्र शास्त्रं न युक्तिञ्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्।।97।।

(श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु 1/2/292)

जैसा कि समर्था रति का लक्षण श्रीउज्ज्वल नीलमणि में (स्थायीभाव प्रकरण-52) वर्णित है –

"स्व-स्वरूपोत्थ होने कारण साधारणी और समञ्जसा रति से भी अनिर्वचनीय वैशिष्ट सम्पन्न—श्रीकृष्ण को अतिशय वशीभूत करने वाली यह रति संभोगेच्छा को सर्वथा अपने भीतर तादात्म्य कर लेती है। इस प्रकार सर्वातिक्रमी सामर्थ्य के कारण इसे समर्था रति कहते हैं।।95।।"

"सर्वापेक्षा अद्भुत श्रीकृष्णवशीकारिता के रूप में विस्मय को प्रकट करने वाली जो विलास-तरंगें हैं, उनके द्वारा जिसकी चमत्कारकारी शोभा है, इस रति में कभी भी संभोगेच्छाविशेष पृथक् नहीं होती, स्व-सुख कामना समर्थारति को कभी भी भेद नहीं पाती अर्थात् पृथक् रूप से उसकी प्रतीति भी गोचर नहीं होती। इसलिए इस रति में केवल अपने प्रियतम श्रीकृष्णसुख के लिए ही समस्त चेष्टायें होती हैं।।96।।" (उ.नी. स्थायी भाव प्रकरण - 55)

"इयन्तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते।
आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम्।
तत्तत् क्रीड़ा-निदानत्वात् काम इत्युच्यते बुधैः।।

– शृंगार रसमयी कामरूपा भक्ति श्रीव्रजगोपियों में सुप्रसिद्ध होकर विराजमान है। इनका दिव्य प्रेम अनिर्वचनीय माधुरी को प्राप्त होकर काम क्रीड़ा के सदृश उन-उन क्रीड़ाओं का कारण बन जाता है। इसीलिए विद्वानों ने इस विशेष प्रेम को 'काम' संज्ञा से अभिहित किया है।" जैसा कि तंत्र में दृष्ट होता है—

"प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्"

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में उद्धृत (1/2/285))

– श्री गोपरामाओं का प्रेम 'काम' नाम से ख्याति प्राप्त है। यह दिव्य प्रेम पाने के लिए महाभागवत श्रीउद्धव जी आदि भक्तगण प्रार्थना करते हैं।

अतः श्रीव्रजसुन्दरियों की परम प्रसिद्ध दिव्य प्रेमरूपा भक्ति को ही भक्ति शास्त्रों में कामरूपा कहा गया है। कामरूप से प्रसिद्ध संभोग तृष्णा (स्व सुखवासना) को भी इनकी परम प्रेममयी भक्ति अपना स्वरूप अर्थात् प्रेममयता को प्राप्त करा देती है। क्योंकि व्रजदेवियों की इस भक्ति में अखिल चेष्टायें केवल श्रीकृष्ण के सुखार्थ ही होती हैं।

विद्वच्चक्रचूड़ामणि श्रीजीव गोस्वामी जी ने प्रीति सन्दर्भ में कहा है—"एष भावः (कान्त भावः) कामतुल्यत्वात् श्रीगोपिकासु कामादिशब्देनाप्यभिहितः। स्मराख्य कामविशेषस्त्वन्य, वैलक्षण्यात्। कामसामान्यं खलु स्पृहा-सामान्यात्मिकम्। प्रीतिसामान्यन्तु विषयानुकूल्यात्मकस्तदनुगत-विषयस्पृहादिमयो ज्ञानविशेषः इति

इति लक्षितस्य कामानुगानिमित्तस्य लोभस्याभावाच्च।

शास्त्रोक्तया प्रबलया तत्तन्मर्यादयान्विता। वैधीभक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादा मार्ग उच्यते।।98।।

(श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु 1/2/269)

इति निरुक्तिव्याप्तेः। अन्यथा समर्थोत्कर्षस्याप्रयोजकत्वाच्च।

कामानुगास्वरूपावगमे यत्नः सुदुर्लभे। कर्तव्यः सर्वथा विज्ञैस्तच्छ्रद्धावासितान्तरैः।।99।।

अवएव समर्थारति की अनुगता ही है कामानुगा। समर्था की अनुगामिनी भक्ति द्वारा ही समर्थारति की प्राप्ति संभव होती है, तब उसके विषय श्रीनन्दनन्दन की प्राप्ति होती है।

वैधीभक्ति समञ्जसा रति की अनुगता है इसमें शास्त्रों के वचन ही प्रबल होते हैं। जैसाकि-"पति ही स्त्रियों के गुरु होते हैं" (उशनस संहिता) समञ्जसा में इस प्रकार शास्त्र-मर्यादा का अनुकरण (पालन) की प्रधानता है।

रागानुगा भक्ति में प्रवृत्ति एकमात्र लोभ से ही होती है। श्रीमद्रूप गोस्वामी जी ने लोभोपत्ति का कारण श्रीभक्तिरागामृत सिन्धु में वर्णन किया है—"श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण के मधुरातिमधुर नाम-रूप-गुण-लीलादि की माधुरी श्रवण द्वारा यत् किञ्चिद् रस की अनुभूति होने पर शास्त्र प्रमाण और युक्ति की अपेक्षा न रखते हुए बुद्धिवृत्ति का प्रवर्तन अर्थात् उन-उन माधुर्य-रसास्वादन की अभिलाषा उत्पन्न होना ही

लक्षितम्। ततो द्वयोः समान प्रायचेष्टत्वेऽपि कामसामान्यस्य चेष्टा स्वीयानुकूल्यतात्पर्या। शुद्ध प्रीतिमात्रस्य चेष्टा तु प्रियानुकूल्यतात्पर्यैव।

— यह कान्तभाव कामतुल्य प्रतीति होने के कारण गोपियों के विशुद्ध प्रेम को शास्त्रों में 'काम' शब्द से भी अभिहित किया गया है। (परन्तु) स्मर नामक प्राकृत काम इससे सर्वथा भिन्न है, क्योंकि दोनों में बहुत अन्तर है। साधारणतया काम का अर्थ है स्पृहा—स्व-सुख की कामना। प्रेम या प्रीति का अर्थ है भगवत् सुख के निमित्त उनके अनूकूल विषयों की अभिलाषमय ज्ञान विशेष।"

रसिककुलमुकुटमणि श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी काम और प्रेम का अन्तर समझाते हुए कहते हैं कि—

"सहजे गोपीर प्रेम नहे प्राकृत काम। कामक्रीड़ा साम्ये तारे कहे काम नाम।।
आत्मेन्द्रिय प्रीति वाञ्छा तारे बलि काम। कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।।
अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर। काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्वर।।"

(श्री चैतन्य चरितामृत)

अतएव दोनों की चेष्टायें बाहरी दृष्टि से एक जैसी लगने पर भी दोनों में अन्धकार और प्रकाश के समान जमीन-आसमान का अन्तर है। काम की चेष्टा सदा निज सुखप्राप्ति की रहती है और प्रेम की चेष्टा सदैव प्रियतम को सुख प्रदान करने की रहती है। श्रीव्रजसुन्दरियाँ स्नान, भोजन, श्रृंगार यहाँ तक की मान, तिरष्कार आदि करती हैं तो केवल प्रियतम के सुख के लिए ही। अतएव गोपियों का स्व-सुखकामनाशून्य प्रेम निर्मलता-दिव्यता की चरम सीमा पर स्थित है। इसीलिए श्रीउद्धवजी प्रार्थना करते हैं —

"एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो, गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़भावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च, किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य।।

(श्रीमद्भागवत 10/47/58)

अस्या व्यवस्था संलेख्या साधनानां चतुष्टये। अतः समासतः प्रोक्तं स्वरूपमात्रमत्र हि।।100।।

अत्र प्रथमसाधनावकर-द्वितीयसाधनावकरनिरसनं जातम्। इति कामानुगास्वरूप-प्रकाशनं चतुर्थं पूर्णम्।

(स्वरूप प्रकाशन चतुष्टय शेषः)

द्वैरूप्यं विमतं स्पष्टं स्थानलीलागतं भवेत्। द्वैविध्यं तद्गतं गूढ़मतिगूढ़ं क्रमेण तत्।।101।।

लोभ-उत्पत्ति का लक्षण है।।97।। (भ.र.सि. 1/2/292)

वैधीभक्ति में कामानुगा की निमित्तक ऐसी लोभोत्पत्ति का अभाव रहता है।" वैधी भक्ति का लक्षण-श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु में (1/2/269) –

"शास्त्रोक्त मर्यादा का पालन ही जहाँ प्रबल हो उसे वैधीभक्ति कहते हैं, कोई-कोई महानुभाव इसे 'मर्यादा मार्ग' कहते हैं।।98।।"

भक्तिरस शास्त्रों में इस प्रकार वर्णन की व्यापकता है। अन्यथा समर्थारति के उत्कर्ष की कोई प्रयोजनीयता नहीं रह जाती है। व्रज की रागमयी भक्ति में श्रद्धाशील विज्ञजनों को सुदुर्लभ कामानुगा का स्वरूप अवगत करने के लिए सर्वथा प्रयत्न करना चाहिए।।99।।

साधन चतुष्टय प्रकरण में कामानुगा की विशेष अवस्था (स्वरूप) का सम्यक् रूप से लेखन (वर्णन) किया जायेगा अतः यहाँ संक्षेप में स्वरूप मात्र का वर्णन किया गया है।।100।।

– इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीगोविन्द के प्रेम की पराकाष्ठा महाभाव में स्थित हो गयी हैं। प्रेम की यह सर्वोच्च स्थिति संसार भय से भीत मुमुक्षुजनों के लिये ही नहीं अपितु बड़े-बड़े मुनियों-मुक्तपुरुषों तथा हम भक्तजनों के लिए भी अभी वाञ्छनीय ही है। हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। सत्य ही है, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाकथा के रस का चसका लग गया है, उन्हें कुलीनता की, द्विजाति-समुचित संस्कार की और बड़े-बड़े यज्ञ-यागों में दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है? अथवा यदि श्रीकृष्ण कथा का रसास्वादन प्राप्त नहीं हुआ, उसमें रुचि उत्पन्न नहीं हुई, तो अनेक महाकल्पों तक बार-बार ब्रह्मा होने से ही क्या लाभ?"

कलिपावनावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने करुणा करके ऐसी ब्रह्मादिकों के लिए सुदुर्लभ कामानुगा (प्रेमानुगा) भक्ति का वितरण कर श्रीव्रजदेवियों (सखी-मंजरियों) का भाव और प्रेम-प्राप्ति का द्वार उद्घाटित कर दिया है।।93-94।।

समर्था-रति का वैशिष्टय उज्ज्वल नीलमणि (स्थायीभाव प्रकरण श्लोक सं.-52) की लोचनरीचनी टीका में श्रीमज्जीव गोस्वामीचरण ने लिखा है कि-"यया रत्या तादात्म्यमेकीभावमापन्ना संभोगेच्छा सा रतिः समर्थेति भण्यते.......।" यद्यपि तदिच्छा दुर्वारा तथापि बलवत्त्वात् कंचिद्विरोषमायान्त्या यया रत्या मिलितत्वात्तत्तादाम्यमापन्ना भवति सा रतिः सर्वातिक्रमिसामर्थ्यात् समर्थेति भण्यत इति।"

भावार्थ – जिस रति के द्वारा संभोगेच्छा (स्व-सुख कामना) तादात्म्य-ऐक्य भाव को प्राप्त कर जाती है उसे समर्थारति कहते हैं। संभोग दो प्रकार का है। एक है–प्रियजन (प्रेमी) के द्वारा अपनी इन्द्रियों की सुख प्राप्ति करना और दूसरा है–अपने द्वारा उन्हें सुख प्रदान करना। पहली इच्छा काम है, क्योंकि यह अपने हित के लिए है। दूसरी इच्छा को रति (प्रेम) कहते हैं, क्योंकि यह इच्छा प्रियजन के हित के लिए है। इसमें प्रियजन के सुख

साध्यसाधनगत्वेन त्रिविधं तद्विधा पुनः। निरस्तं विमतं स्पष्टमाद्ये तत्र चतुष्टये।।102।।

तत्तु स्पष्टविमतनिरसनं साध्यगतमुपपत्नीभावाभिमानात्मतया पत्नीभावाभिमानात्मतया च समर्थाया द्वैरूप्यं यत्तस्य विमतस्य खण्डनेन सिद्धम्। समर्थाया द्वैरूप्यस्य विमतस्य खण्डनेन तदनुगायाः

इस प्रकरण में प्रथम और द्वितीय साधन की उपाधि (दोष) का निरसन किया गया।

(कामानुगा स्वरूप प्रकाशन नामक चतुर्थ प्रकरण पूर्ण हुआ।)

स्वरूप प्रकाशन चतुष्टय शेषः

सिद्धान्त विरूद्ध मंत का उल्लेख करते हुए श्रीग्रन्थकार चरण ने कहा-धाम (भौम वृन्दावन और नित्य वृन्दावन) और लीला की द्वित्रूपता स्वीकार करना विरूद्धमत है, लीलाकी द्विविधता परकीया और स्वकीया मानना भी विरूद्ध मत है। पुनः धाम को प्रपञ्च गोचरीभूत एवं प्रपञ्च अगोचरीभूत मानना यह गूढ़ विरूद्धमत है।

पुनः विश्वनिमित्त लीला को योग तथा अयोग (संयोग-वियोग) दो प्रकार मानना अतिगूढ़ विरुद्धमत है।

साध्य और साधन की (व्रज, मथुरा, द्वारका) त्रिविधता फिर उसे द्विविध स्वीकार करना (समर्थागत तथा समर्थानुगागत) विरुद्ध मत है।

इन विरुद्धमतों का प्रथम प्रकरण 'प्रकाशन चतुष्टय' में खण्डन किया गया है।

के साथ-साथ स्वयं को भी उनका स्पर्श-सुखानुभूति होती ही है। यद्यपि प्रियजन के मिलन की सुखेच्छा दुर्दमनीय है तथापि समर्थारति में साधारणी और समञ्जसा से एक विशेष अनिवर्चनीय शक्ति है जो स्व-सुख इच्छा को अपने में समाहित कर तादात्म्य भाव प्राप्त करा देती है। ऐसी सभी को अतिक्रम करने वाली सामर्थ्य होने के कारण ही इसे समर्था रति कहते हैं।।95।।

सर्वाद्भूत विलासोर्मि...... (उ.नी. स्थायीभाव-55) इस श्लोक की 'आनन्दचन्द्रिका' टीका में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती जी लिखते हैं कि-"तथा ह्यस्या रतेः स्वरूप सिद्धत्वाद् गुणादिश्रवणानपेक्षितत्वेन प्राबल्याद्वयः सन्धेः पूर्वमेव व्रजबालासु कासुचित् तथापरासु नन्दपुरनिकटवर्तिनीषु रतेः स्वरूपसिद्धत्वेऽपि श्रीकृष्णेन सह धूलिखेलनादिभिः परिचयाधिक्येनापि प्रादुर्भावः ...."

भावार्थ — अत्यन्त घनीभूत होने इस समर्थारति में कोई दूसरा भाव प्रवेश ही नहीं कर पाता है इसीलिए इस रति में संभोगच्छा कभी भी पृथक् रूप से प्रतीति नहीं होती। यह रति स्वरूपसिद्ध होने के कारण गुणादि श्रवण की कोई अपेक्षा नहीं रखती, इसकी प्रबलता इतनी है कि वयः सन्धि (बाल्य + कैशोर की सन्धि) से पूर्व ही अर्थात् बाल्यावस्था में ही कुछ बालाओं में उद्भूत होती है और नन्दगाँव के निकटवर्तिनी अन्य व्रजबालाओं की रति स्वरूपसिद्ध होने पर भी यह श्रीकृष्ण के साथ धूल-क्रीड़ादि द्वारा परिचय की अधिकता से प्रादुर्भाव होती है। सामान्य रूप से प्रादुर्भूत यह रति उन व्रजबालाओं को श्रीकृष्ण में ही अत्यन्त प्रीति (आसक्ति) उत्पन्न करा देती है, इनकी सभी इन्द्रियों की वृत्तियाँ यानि दर्शन-श्रवण-वर्णन आदि अखिल चेष्टायें श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही होती हैं।

जब वयः सन्धि अवस्था आने पर कन्दर्प के उद्गम से इनके रति के द्वारा आक्रान्त मन में जो संभोग तृष्णा जात होती है, वह भी तत्सुख-सुखीत्व ही होती है। इनकी संभोगेच्छा रति के साथ तादात्म्य प्राप्त हो जाती है। श्रीकृष्ण की मिलनाकांक्षा केवल उनके सुख विशेष-उत्पादन के लिए ही होती है। व्रजबालाओं की स्वसुखेच्छा कभी भी पृथक् रूप से प्रकट नहीं होती। इसलिए इनकी श्रीकृष्ण मिलनाकांक्षा 'विशेष' शब्द से अभिहित होने

कामानुगापरपर्यायाया द्वैरूप्य रूपविमतखण्डनात्साधनगतन्तु तत्सुतरां जातम्। किञ्च श्रीव्रजगोलोकयोः सालक्षण्यं स्पष्टविमतानुकूलम्। तत्तु समर्थारति द्वैरूप्यरूपविमतखण्डनेन निराकृतं जातम्।

प्रज्ञयास्य चतुष्कस्य स्वरूपाणां किलाग्रतः। वैलक्षण्यं सुबोध्यं स्यादादौ तल्लिखितं ततः।।

इति स्वरूपप्रकाशनं चतुष्टयं पूर्णम्।।

उस स्पष्ट विमत का निरसन "साध्यगत उपपत्नीभाव-अभिमानात्मक और पत्नीभावाभिमानात्मक रूप से समर्थारति की द्विरूपता"-इस विरूद्धमत के खण्डन से किया गया है। समर्था की द्विरूपता रूप विमत के खण्डन से एवं उसके अनुगत कामानुगा के दूसरे पर्याय की द्विरूपता रूपी विमत के खण्डन से साधनगत द्विविधता का खण्डन भी सहज ही हो गया है। और भी, श्रीव्रजधाम और गोलोक को अभिन्न कहना यह स्पष्ट ही विरूद्धमत का अनुकूल है। इस विमत का खण्डन समर्थारति की द्विरूपता के खण्डन से स्वतः हो गया है।

शास्त्र प्रमाण एवं युक्ति द्वारा इस स्वरूप प्रकाशन चतुष्टय में अर्थात् महाभाव का स्वरूप, निसर्ग का स्वरूप, समञ्जसा-समर्था का स्वरूप और कामानुगा स्वरूप का लेखन किया गया जिससे निश्चित ही अगला वैलक्षण्य चतुष्टय प्रकरण सुन्दररूप से बोधगम्य होगा।

से एक विशेष स्थान रखती है।

इनकी रति में कौन सी विशेषता है; इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि-समर्था रति में श्रीकृष्ण को वशीभूत करने वाली अति अद्‌भुत आश्चर्यजनक केलि विलास-लहरियाँ हैं। इन केलि-लहरियों के कारण ही इसकी चमत्कारकारी श्री है। और इसी शोभा सम्पत्ति के कारण ही समर्थारतिमती व्रजदेवियों के काय-मनो-वचन की समस्त चेष्टायें, बुद्धि पूर्वक हो या बुद्धिरहित हो सब अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही होती हैं। इसी निमित्त नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को परम सुख की प्राप्ति होती है।

स्व-सुखकामनाओं की गन्ध रहित परम निर्मल अति दिव्य प्रेम के कारण ही श्रीरासबिहारी भगवान् ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है-

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृखलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना।।

(भा. 10/32/22)

— मेरी प्यारी गोपियों! तुमने मेरे निमित्त बड़े-बड़े योगी-यति भी जिन्हें नहीं तोड़ पाते उन घर-गृहस्थी की बेड़ियों को प्रेम के प्रचण्डवेग से सहज ही तोड़ डाला है। मुझसे तुम्हारा यह मिलन सर्वदा निर्मल तथा निर्दोष है। यदि मैं अमर जीवन से अनन्तकाल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्म के लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही रहूँगा।"

एकमात्र ब्रजगोपियों के प्रति ही व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ने इस प्रकार ऋणी होने की बात कही है। अतएव श्रीब्रजसुन्दरियों की प्रेम की पराकाष्ठा इस समर्थारति में भगवान् श्रीकृष्ण को वशीभूत करने की परम अद्‌भुत सामर्थ्य है।।96।।

— क्रमशः